शान्तिदूत

महाश्रमण फुजिई गुरुजी



तथागत प्रकाशन

शान्तिदूत

महामना फूजिई गुरुजी

लेखक

उपेन्द्र महारथी

प्रकाशक

तथागत प्रकाशन

द्वारा—जापानी बुद्ध मन्दिर

राजगीर, नालन्दा

प्रकाशक :

तथागत प्रकाशन
द्वारा—जापानी बुद्ध मन्दिर
पो० राजगीर, जि० नालन्दा

लेखक :

उपेन्द्र महारथी

मूल्य : दो रुपये मात्र

मुद्रक :

धर्मयुग प्रेस, पटना-३

ना मू म्यो हो रें गे क्यो

जापान-बौद्ध-संघ के अध्यक्ष

(मेरे गुरुजी)

परमपूज्य भिक्षु

महामानव निचिदात्सु फूजिई गुरुजी

की सेवा में

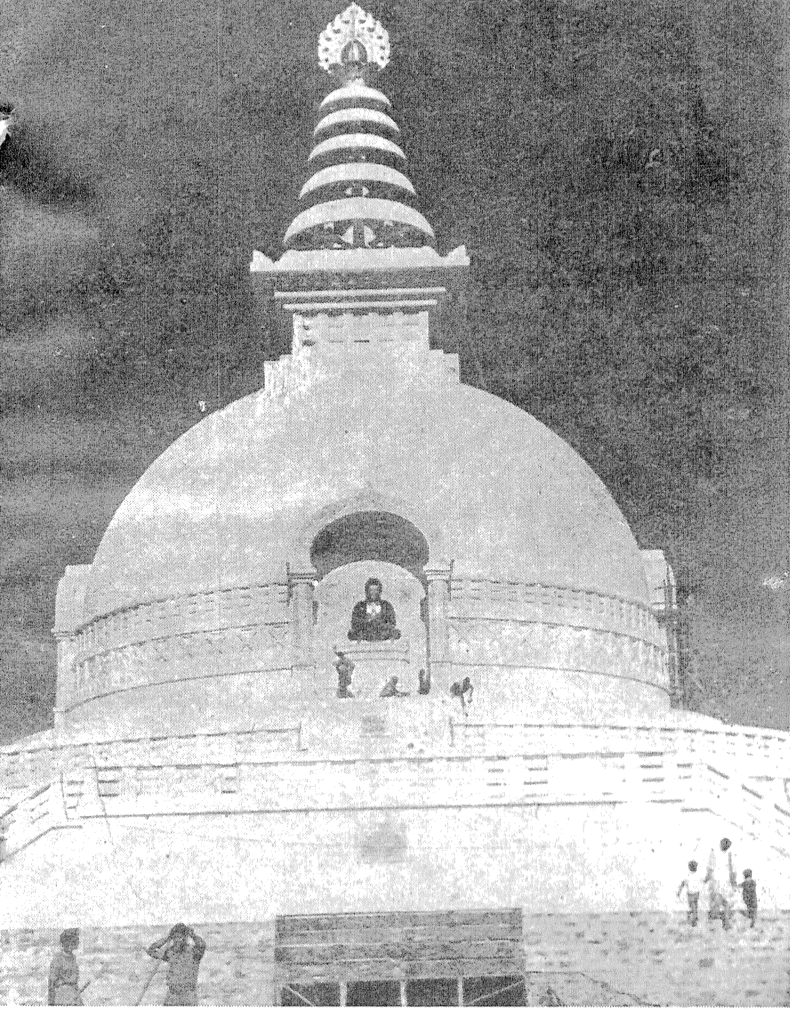
उनके ८९वें दिव्य आविर्भाव-अनुष्ठान के उपलक्ष्य में,
दिनांक २५ अक्तूबर, १९७३ ई०, को राजगीर विश्व-शान्ति-स्तूप
के वार्षिक समारोह के अवसर पर

सादर समर्पित

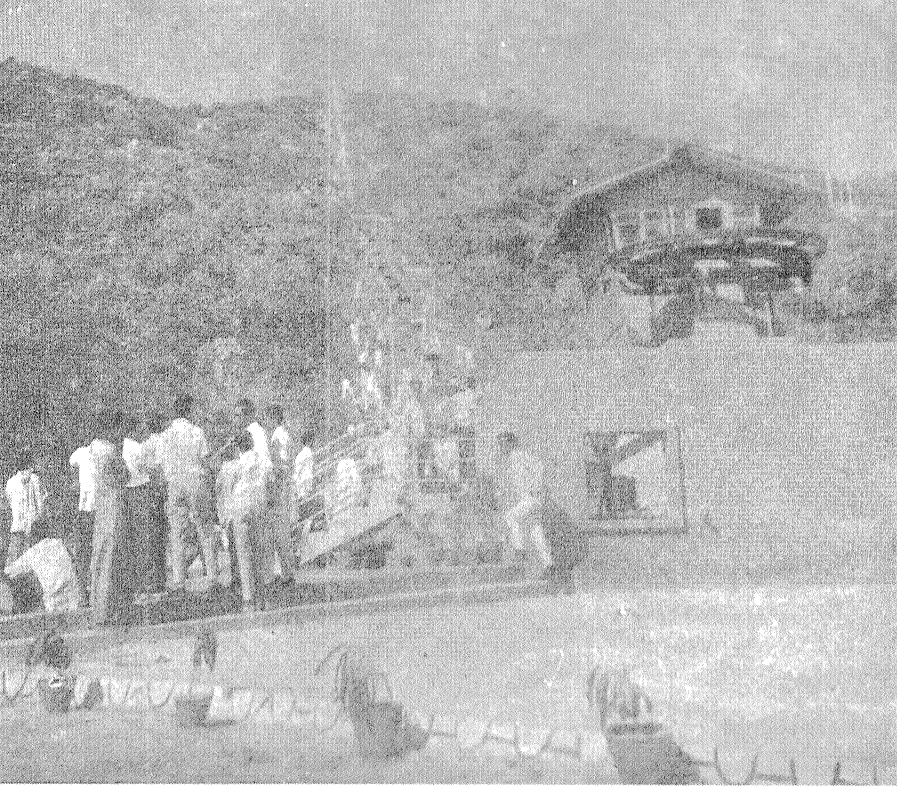
—महारथी



महामानव निचिदात्सु फूजिई गुरुजी
(जापान बौद्ध संघ के अध्यक्ष)



विश्व शान्तिस्तूप रत्नगिरि (राजगीर)



रज्जूमार्ग (राजगीर)

प्रस्तावना

सन् १९३९ ई० में, जब मैं रामगढ़-काँग्रेस के अधिवेशन-स्थल की सजावट के साथ ही, अन्यान्य सांस्कृतिक आयोजनों एवं 'बिहार के चित्रित गौरव' नामक पुस्तक को, प्रकाशन के पूर्व चित्रित करने में अन्य कतिपय शिल्पियों के साथ व्यस्त था, तब मेरी पहली मुलाकात **महामना पूज्य फूजिई गुरुजी** के प्रधान शिष्य **मारुयामा सान्** से हुई थी। 'बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन' का प्रणयनकार्य **श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार** के नेतृत्व में **श्रीपृथ्वी सिंह मेहता** कर रहे थे। ये दोनों पुस्तकें पुस्तक-भण्डार की ओर से छापी जा रही थीं एवं छपवाने का समस्त भार मेरे ऊपर था।

जिस दिन काँग्रेसाध्यक्ष **श्रीअब्दुल कलाम आजाद** रामगढ़ पहुँचनेवाले थे, उस दिन स्टेशन पर अपार जनसमुदाय उनके स्वागतार्थ एकत्रित हुआ था। उस जुलूस के साथ मैं भी उनके स्वागत के लिए स्टेशन चला आया था। गाड़ी आने में कुछ देर थी। उसी जनसमुद्र के मध्य **मारुयामा सान्** एवं एक अन्य भिक्षु 'ना मू म्यो हो रें गे क्यो' के उच्चारण के साथ शान्ति का बाजा बजाते हुए गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। बाजे की ध्वनि से आकृष्ट होकर मन्त्रमुग्ध-सा उस मधुर ध्वनि का रसपान करता हुआ मैं उनके निकट ही स्थित होकर गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगा। रेलगाड़ी ने जिस समय स्टेशन में प्रवेश किया, उस समय जनसमुद्र विशाल से विशालतर होता जा रहा था। उस कोलाहल के बीच भी **मारुयामा सान्** के शान्ति-वाद्यों की ध्वनि द्विगुणित होकर आगन्तुकों की दृष्टि आकृष्ट कर रही थी। यह ध्वनि वहाँ की जनता एवं आगन्तुकों के लिए सर्वथा नूतन थी, अतएव ये दोनों पीतवस्त्रधारी भिक्षु सभी की दृष्टियों का केन्द्रबिन्दु बन गये थे।

श्रीअब्दुल कलाम आजाद गाड़ी से उतरते ही फूल-मालाओं से लद गये। **मारुयामा सान्** और उनके साथी भीड़ में रास्ता बनाते हुए तीव्र स्वर में बाजा बजाते हुए आजाद साहब की ओर बढ़ने लगे। बाजे की ध्वनि और 'ना मू म्यो हो रें गे क्यो' के मन्त्रोच्चार से आकृष्ट हो **श्री अब्दुल कलाम आजाद** ने उनकी ओर अभिमुख हो, उनका अभिवादन किया, पुनः सौ बैलों से जुते हुए पुष्परंजित रथ पर बैठ गये। गाड़ी के प्रस्थान करते ही जनसमुदाय भी रामगढ़ शहर की ओर बढ़ने लगा। हमलोग भीड़

के किनारे-किनारे चलते जा रहे थे। चौक के निकट, जहाँ रामगढ़-काँग्रेस का झण्डा स्थापित किया गया था, वहाँ जनसमुदाय के बीच अध्यक्ष **श्रीअब्दुल कलाम आजाद** की स्वागत-प्रक्रिया विधिवत् सम्पन्न हुई, तत्पश्चात् उन्होंने अपने निवास की ओर प्रस्थान किया। सभा-विसर्जन के पश्चात् भीड़ भी घटने लगी। उसी दिन संध्या समय 'विषय-समिति' की बैठक थी।

जबतक काँग्रेस-अधिवेशन चलता रहा, हम सबको दम मारने की भी फुरसत न थी। काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन शुरू होने ही वाला था कि मूसलधार वृष्टि होने लगी। प्रकृति के इस प्रकोप से जितने भी आयोजन किये गये थे, वे सभी विफल हो गये। चारों ओर व्याप्त जलराशि जलाशय की सृष्टि कर रही थी। अन्त में, **गान्धीजी** ने अशोक-स्तम्भ के निकट काँग्रेस का खुला अधिवेशन करने की घोषणा की। घोषणा के पश्चात् आगत व्यक्तियों की भीड़ तितर-बितर होने लगी और अन्त में हम सब कार्यकर्त्ता ही शष रह गये। मैं दूसरे दिन **श्री जयचन्द्र विद्यालंकार** के साथ पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के अनुसार रामगढ़ से राजगृह आया एवं जापानी मन्दिर में रहना सुनिश्चित हुआ। रामगढ़-काँग्रेस के अधिवेशन-स्थल में जलाभाव के कारण कई कष्टकर माह व्यतीत करने पड़े थे, जिसके फलस्वरूप कुछ खुजली-जैसी बीमारी उभर आई थी। अत्यन्त कष्ट था। राजगृह के प्रसिद्ध गरम जल के कुण्ड में कई दिनों तक स्नान करने के पश्चात् कुछ आराम हुआ।

मारुयामा सान् के साथ **जयचन्द्रजी** तथा मेरी घनिष्ठता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। वे बड़े साधक पुरुष थे। उनकी सहज निर्मल आत्मा के साथ प्रगाढ़ आत्मीयता का बन्धन स्वाभाविक ही था। तभी से मैं जब भी राजगृह जाता था, **मारुयामा सान्** के साथ जापानी मन्दिर में ठहरता था। उनसे हमारी आत्मीयता उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। कुछ समय पश्चात्, अर्थात् सन् १९४२ ई० में स्वाधीनता-आन्दोलन शुरू हुआ, साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध भी छिड़ गया। इस विश्वयुद्ध में ब्रिटिश-भारत एवं जापान के सम्बन्ध अच्छे न होने के कारण भारतवर्ष में वर्त्तमान सभी जापानी नागरिकों को, चाहे वे संन्यासी ही क्यों न रहे, जेल में भेज दिया गया, पुनः वहाँ से सीधे जापान वापस भेजा गया। राजगृह में स्थित रामकृष्ण मिशन के संन्यासी **विश्वानन्दजी** के साथ **मारुयामा सान्** के अच्छे सम्बन्ध थे, अतएव जेल जाते समय वे जापानी मन्दिर का कार्यभार उन्हें सौंप गये। बहुत दिनों तक **विश्वानन्दजी** अकेले ही मन्दिर में रहते थे। कभी-कदास मैं भी उनके पास जाकर रहता था। इस प्रकार, जापान के बौद्ध संघ के साथ मेरे सम्बन्ध स्थापित हुए।

सन् १९५४ ई० में, यूनेस्को के अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारतवर्ष से मनोनीत होकर मैं जापान गया। वह सेमिनार डेढ़ महीने तक चला था

और मैं जापान दो महीने के लिए गया था। किन्तु,सेमिनार के पश्चात् भारत-सरकार से वेणु-शिल्प तथा अन्यान्य गृह-उद्योगों का अध्ययन करने की अनुमति प्राप्त हाने पर मैं वहाँ करीब दो साल रहा। इस अवधि में **मारुयामा सान्** तथा **जापान-बौद्ध-संघ** की कार्य-प्रणाली से विशेष रूप से प्रभावित हुआ और तभी से मैं **जापान-बौद्ध-संघ** का अनुयायी बन गया।

जापान से लौटने के पश्चात् **जापान-बौद्ध-संघ** से मेरा सम्बन्ध परिपक्व हो चुका था। तत्पश्चात् **पूज्य फूजिई गुरुजी** ने मेरे जीवन में प्रवेश किया। मैं उनके ऊर्जस्वल व्यक्तित्व, कर्मठता तथा तेजस्विता से प्रभावित हो, एकलव्य की भाँति गुरुभक्त बन गया। उन्हें जब भी देखता हूँ, ऐसा प्रतीत होता है, मानो बुद्ध के अवतार का साक्षात् दशन कर रहा हूँ। अक्सर मैंने देखा है कि उनसे प्रथम बार सम्पर्क स्थापित होते ही लोग उनके भक्त हो जाते हैं। उनके दाक्षिण्य और औदार्य के विषय में जितना भी लिखा जाय, कम है।

भारत से ही बौद्धधर्म सर्वत्र व्याप्त हुआ। परन्तु, कालक्रम से कुरीतियों से ग्रस्त समाज में बौद्धकालीन ऐतिहासिक स्थापत्य कलावशेषों को छोड़कर उस महान् धर्म की स्मृति-स्वरूप अन्य कुछ भी नहीं बचा। बौद्धधर्म के विलीन होते ही हमारी संस्कृति, संस्कार, कला, वाणिज्य, आचार-विचार, रहन-सहन इत्यादि के स्तर निम्नतर होते गये। आज उस संस्कृति का जो कुछ भी अवशिष्ट है, वह भी विदेशी प्रभाव से मिश्रित है या उसका विकृत रूप है।

यह किंवदन्ती ही नहीं, अपितु प्राचीन साधकों द्वारा की गई भविष्यवाणी है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के २५०० वर्षों के पश्चात् भारतवर्ष में पुनः बौद्धधर्म का प्रचार होगा। सूर्यदेश (जापान) के नेतृत्व में बौद्धधर्म भारतवर्ष में पुनः जागरित होगा।

"**निचिरेन बोधिसत्व** ने इस प्रकार भविष्यवाणी दी थी। भारतवर्ष को चन्द्रमा का देश कहते हैं। जापान को सूर्योदय का देश।

यह सद्धर्म हमारे देश जापान में इस तरह आया है जिस तरह चन्द्रमा अपना पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए पश्चिम से पूर्व की ओर अपनी यात्रा बढ़ाता है और उसे उसी पूर्ण रूप में पुनः भारत को प्रदान करना है वैसे जैसे सूर्य पूर्व से निकल कर पश्चिम में जाता है।"

वह भविष्यवाणी आज सत्य होती हुई-सी प्रतीत हो रही है। पूज्य गुरुजी के भारत-आगमन एवं उनकी अनन्त कल्याणकारी चेष्टाओं के परिणामस्वरूप इस बीसवीं शताब्दी में, भारतवर्ष में पुनः बौद्धधर्म का उद्ग्रीव हो रहा है।

भारत के परम शुभानुध्यायी इस महान् व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने की ओर भारत ने कोई भी प्रयास नहीं किया और न उस रूप में उनके

आध्यात्मिक महत्त्व का मूल्यांकन किया, जिस रूप में उनके तपोमय जीवन के आज की एवं भावी पीढ़ी प्रेरणा ग्रहण कर सके।

मेरे मन में बहुत दिनों से इस पुस्तक को लिखने की प्रबल इच्छा थी। इस बार जब मैं **भाई श्रीदुर्गाप्रसाद शर्माजी** के साथ ६ अगस्त, १९७३ ई०, को काठमाण्डू में आयोजित पूज्य गुरुजी की ८९वीं वर्षगाँठ के समारोह में निमन्त्रित होकर गया था, तब वहाँ के विभिन्न धर्मावलम्बी नागरिकों का समारोह में उत्साह देखकर आश्चर्य-चकित हो उठा। ऐसा उत्साहपूर्ण वातावरण केवल जापान को छोड़कर मैंने अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा था। उसी स्थल पर मैंने यह निर्णय कर लिया कि पूज्य गुरुजी की जीवनी के सम्बन्ध में जनसमाज को जानकारी प्रदान करने के लिए, एक छोटी-सी पुस्तिका लिखूँगा।

आज मेरी उस कल्पना का साकार रूप आपके सम्मुख उपस्थित है। उस महान् व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने का यह तो बहुत ही छोटा-सा प्रयास है।

पूज्य गुरुजी के दैनिक जीवन में निरन्तर ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जिनको संगृहीत कर यदि प्रकाशित किया जाय, तो एक विशाल ग्रन्थ की रचना हो सकती है। इतने अल्प समय में इस पुस्तिका के सम्पादन तथा प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता उपलब्ध करना सर्वथा असम्भव था। वस्तुतः, सर्वसाधारण की जानकारी के लिए इस लघुकाय पुस्तिका का प्रकाशन ही मुझ जैसे व्यक्ति के सामर्थ्य के बाहर था। परन्तु, अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध **राजगृह-बुद्ध-बिहार-संघ** के सचिव, भाई **श्रीदुर्गाप्रसाद शर्मा** के अनुग्रह के फलस्वरूप यह लघुकाय पुस्तिका प्रथम संस्कर प्रकाशित होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत हो सकी थी ,इसके लिए मैं भाई शर्माजी का अतिशय कृतज्ञ हूँ। साथ ही, **श्रीरंजन सूरिदेवजी** ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को संशोधित कर अपने निश्छल सहयोग से मुझे सदा के लिए अनुगृहीत किया है। प्रथम संस्करण एक ही दिन में समाप्त हो जाने पर "महामना फुजिई गुरुजी" के अनुकम्पा से द्वितीय संस्करण प्रकाशन इतने जल्द प्रकाशित हा सकी, जिसके लिए मैं सदा आभारी रहूँगा।

इस पुस्तिका को प्रस्तुत करने में मैंने कतिपय पुस्तकों से सहायता प्राप्त की है, जिनमें भारत-चीन-सीमा-संघर्ष के समय **कस्तूरबा-सेवा-मन्दिर**, राजपुरा से प्रकाशित एक विशेषांक तथा राजगृह-शान्ति-स्तूप के उद्घाटन-काल में **भिक्षु ताकाहाशी** द्वारा लिखित पुस्तक प्रमुख हैं। इन पुस्तकों एवं जिन अन्यान्य पुस्तकों की सहायता में इस पुस्तक के सम्पादन में मुझे सहायता प्राप्त हुई है, उनके लेखकों के प्रति मैं हृदय से अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

पटना, ज्योतिपर्व — **उपेन्द्र महारथी**

२५ अक्टूबर, १९७३ ई०

महामना परमपूज्य पीठस्थविर शान्तिदूत

भिक्षु निचिदात्सु ग्योशो फूजिइ गुरुजी

[साधक व्यक्ति : आराध्य व्यक्तित्व]

अवतरण : उद्बोधन

सुदूर अतीत में, संसार के समस्त धर्मावलम्बियों तथा बुद्धिजीवियों के अन्तस्तल को प्रभावित करनेवाली भगवान् बुद्ध की जिस वाणी ने मानवता एवं अहिंसा का जो एक जगद्व्यापी और विश्व-कल्याणकारी साम्राज्य स्थापित किया था, वह काल के अन्तराल को पार करके चिर-शाश्वत बना हुआ है। अज्ञानता के उस अन्धयुग से सर्वत्र हिंसा-ही-हिंसा दृष्टिगोचर हो रही थी, मानव-जीवन में केवल रिक्तता और तिक्तता ही व्याप्त थी, मानवीय भावना का कोई मूल्य नहीं था। हिंसा, द्वेष, घृणा इत्यादि दुर्भावनाओं से ग्रस्त मानव त्रस्त एवं अशान्तमय जीवन व्यतीत कर रहा था। मानवता के उसी अधःपतन के काल में कल्याणमित्र भगवान् बुद्ध का, मानव के कल्याणार्थ, आविर्भाव हुआ था एवं उन्होंने करुणा, प्रेम और अहिंसा की जो त्रिवेणी प्रवाहित की थी, उसकी अमृतधारा आज भी मानव के तप्त-शप्त हृदय को दिव्य शीतलता प्रदान करती हुई तरंगायित हो रही है। उन्होंने सत्य और अहिंसा के स्वर्ण-युग की स्थापना करके सर्वत्र जिस शान्ति की ज्योति जगाई, उसकी जगमगाहट में हिंसा, द्वेष और घृणा का तिमिरावृत्त विषाक्त वातावरण एकबारगी विलीन हो गया।

यह देखा गया है कि संसार में जब-जब हिंसा, द्वेष, अनाचार इत्यादि अमानवीय भावनाओं का आधिक्य होने लगता है, तब-तब मानवता के कल्याणार्थ, ऐसे ही किसी महान् पुरुष का आविर्भाव होता है।

बुद्ध के द्वारा प्रवर्त्तित धर्म के प्रभाव से सर्वत्र सुव्यवस्था और सुसंगठन लक्षित तो हुआ ही, धर्म के प्रचार-प्रसार के अतिरिक्त देश का सांस्कृतिक स्तर भी उन्नत हुआ। विदेशों में इस अलौकिक धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का भी भूयिष्ठ विस्तार हुआ। भारतीय वाणिज्य, ललित-कला, स्थापत्य-कला, शिल्प, साहित्य इत्यादि से विदेशवासी अत्यन्त प्रभावित भी हुए। इस धर्म के माहात्म्य से तत्कालीन

देश के जन-जीवन के आचार-विचार, रहन-सहन इत्यादि पर सांस्कृतिक सम्पन्नता की जो छाप अंकित हुई, वह आज ढाई हजार वर्षों के बाद भी, निरन्तर गहरी होती चली गई है।

भगवान् बुद्ध के, कठोर साधना द्वारा प्राप्त, बुद्धत्व से आकृष्ट हो, जिस विशाल मानव-समुदाय ने उनका अनुसरण किया, वही संघ कहलाया। इसी संघ के भिक्षुओं ने उन महापुरुष की वाणी का प्रचार किया। संघ ने जब वृहत रूप धारण किया, तब संघवासियों के आचार-विचार, क्रिया-व्यवहार इत्यादि सम्पूर्ण देशवासियों के अनुकरणीय विषय बने। इस प्रकार, बौद्ध संघ एक विराट् मानव-संघ के रूप में परिणत हुआ।

बौद्ध भिक्षु, नगर के बहिर्मार्ग में या प्रकृति के सुरम्य निकेतन में या निभृत स्थान में स्थापित विहार में वास करते थे। बौद्ध भिक्षुओं के ये विहार तत्कालीन धर्म एवं शास्त्रालोचन के केन्द्र थे। भिक्षु अपने शिष्यों को केवल धर्म ही नहीं, वरन् ज्योतिष, आयुर्वेद, चित्रकला भास्कर्य प्रभृति नाना विषयों से सम्बद्ध ज्ञान भी प्रदान करते थे। इस प्रकार, भगवान् बुद्ध की साधना से प्राचीन काल में जिस आश्चर्यजनक सभ्यता की सृष्टि हुई थी, वह आज कल्पनातीत है। आश्चर्य है कि हमने कालक्रम से अपनी उस विराट् भारतीय संस्कृति के महान् रिक्थ को खो दिया। हमने तथाकथित लोकनायकों, राजनीतिज्ञों एवं शासकों की स्वार्थ-सिद्धि के व्यामोह से वशीभूत हो, केवल भौतिक सुखलिप्सा की पूर्त्ति के हेतु अपनी उस महार्घ आध्यात्मिक संस्कृति का पतन होने दिया। शास्ता का जो धर्म समस्त मानवता का अनुशासक था, 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' जिस धर्म का मूल मन्त्र था, जिसमें जन-समाज का कल्याण निहित था एवं जिसके प्रभाव से एक विलक्षण सत्ययुग की सृष्टि हुई था, उसे हम स्वयं, अपनी ही अज्ञानतावश, खो बैठे। एक वह दिन भी था, जब समस्त विश्व की आँखें भारत की ओर लगी हुई थीं। हमारे इस अधःपतन का कारण स्पष्ट है। हमने मानवता के उदार धर्म का त्याग कर दिया है, इसीलिए हमारा हृदय अनाचार, अत्याचार, घृणा, हिंसा, छल-कपट, प्रवंचना इत्यादि दुर्भावनाओं से ग्रस्त हो, अनन्त दुःख से दग्ध हो गया है।

अधःपतन की उसी शृंखला के परिणामस्वरूप एक ऐसा भी युग आया, जब हम परतन्त्रता की बेड़ियों में बँध गये। युगों तक गृह कलह और राजनीतिक उथल-पुथल के शिकार होते रहे। फलतः उस गौरवमय अतीत के खण्डहरों में आर्त्तनाद एवं विलाप के अलावा हमारे पास कुछ भी शेष नहीं रहा। शताब्दियों से यह धरती करुण क्रन्दन कर रही थी। धरती के उस विलाप को सुननेवाले, उससे हमदर्दी

दिखानेवाले एक महान् सन्त, महामानव, करुणा के अवतार **फूजिई गुरुजी** की भारत के ऊपर कृपादृष्टि हुई। वे बुद्धभूमि के महत्त्व को तथा अपने कर्त्तव्य और दायित्व को समझकर भारतीय जनसमाज के कल्याणार्थ उसके अन्तस्तल में चिर सुषुप्त बुद्धत्व के उद्बोध के लिए पैंतालीस वर्षों से निरन्तर कठिनाइयों को झेलते एवं कष्ट और अपमान का विषपान करते हुए, अपने जीवन के अनगिनत अमूल्य क्षणों का बलिदान करते आ रहे हैं।

यहाँ उसी महापुरुष के साधनामय तपोनिरत विराट् जीवन का एक अति संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का तुच्छ प्रयास श्रद्धावश किया गया है।

६ अगस्त, १८८६ ई०। प्राकृतिक सुषमा एवं दूर-दूर तक लहराते हरे-भरे

खेतों से घिरा हुआ ज्वालामुखी पर्वत **आसो**—जिसके आग उगलते उग्र, प्रचण्ड रूप की आशंका से आस-पास की जनता सतत आशंकित एवं आतंकित रहती है, उस उग्र 'आसो' की तलहटी में बसे हुए छोटे-से ग्राम **साकानाशी** में, दिन के ८ बजे, इस महान् अवतारी पुरुष का आविर्भाव हुआ था। यह ग्राम **कुमामोतो** के अन्तर्गत पड़ता है, जो अपने प्राकृतिक, रमणीय दृश्यों के लिए विश्व-विख्यात हैं एवं पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है। एक ओर प्रकृति की प्रशान्त स्निग्ध हरीतिमा और दूसरी ओर ज्वालामुखी का उग्र एवं ध्वंसकारी स्वरूप—प्रकृति के इन दो विपरीत स्वरूपों के बीच इस महान् विनयी, सौम्य, विकसित कमल की भाँति प्रफुल्ल एवं शोभायुक्त मुखश्री वाले अहिंसक धार्मिक नेता का अवतरण अपने-आपमें एक आश्चर्य का विषय है। कितने सौभाग्यशाली हैं उस ग्राम के वासी एवं धन्य हैं उनके माता-पिता, जिन्होंने उस प्रसन्न मुखमुद्रावाले बालक **फूजिई** को जन्म दिया। सामान्य परिवार एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्पन्न यह बालक आगे चलकर बौद्ध जगत् का सर्वप्रिय धर्मगुरु, कुशल क्रान्तिकारी नेता, विनय की प्रतिमूर्त्ति, शान्तिदूत, अहिंसा का पुजारी, प्रकाण्ड विद्वान्, परममेधावी, तत्त्ववेत्ता एवं कर्मठ दूरदर्शी मनीषी के रूप में समस्त संसार के प्रेम एवं आदर का पात्र बना।

एक आश्चर्यजनक संयोग हुआ, इस शान्तिप्रिय, अहिंसा के समर्थक एवं दयावान् महापुरुष के जन्मकाल में। सम् १८८७ ई० के ६ अगस्त को प्रातः आठ बजे जिस क्षण यह महान् अवतारी पुरुष इस धरती पर अवतीर्ण हुआ, उसी क्षण हिरोशिमा में अणु-विस्फोट की वह इतिहास-प्रसिद्ध घटना हुई, जा अपनी नृशंसता एवं अमानवीयता में एक ही है। नियति की कैसी विडम्बना है ? जहाँ एक ओर अहिंसा की धवल ज्योति प्रकट हो रही थी, वहीं दूसरी आर हिंसा के गहन अन्धकार में करोड़ों नर-नारी दिशाहीन हो भटक रहे थे। जो देश स्वयं को संसार में सबसे अधिक

सभ्य एवं सुसंस्कृत मानकर गौरवान्वित होता है, क्या यही है उसकी सभ्यता और नैतिकता का आदर्श ? क्या यही है वह सन्मार्ग, जिससे प्रेरित हो आगे की पीढ़ी उसका अनुसरण करेगी ?

बालक फूजिई माता-पिता के लालन-पालन में ज्यों-ज्यों दिन-प्रतिदिन बढ़ते गये, त्यों-त्यों उनके व्यवहार तथा हाव-भाव में विलक्षणता दृष्टिगत होने लगी, जो सामान्यतया अन्य शिशुओं में दुर्लभ रहती है।

बचपन से ही बालक फूजिई अत्यन्त शान्त एवं सुशील प्रकृति के थे। सामान्यतः बालक खेल-कूद में अभिरुचि रखते हैं, किन्तु बालक फूजिई का स्वभाव इसके विपरीत था। सहानुभूति और करुणा के भावों से बालक फूजिई का हृदय परिपूर्ण था। असहाय एवं विपत्ति में पड़े हुए मनुष्य की सहायता करने की प्रवृत्ति उनमें बाल्यकाल से ही थी। सबके सुख से सुखी एवं दुःख से दुःखी हो उठना उनका स्वभाव था। अगर उनके किसी सहपाठी के परिवार पर विपत्ति आ पड़ती थी, तो वे उसकी हर प्रकार से सहायता करते थे। जिज्ञासा एवं अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति तो उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। धार्मिक कथाओं का श्रवण करने में बालक फूजिई की अभिरुचि अत्यन्त तीव्र थी।

समाज की कुरीतियों और धर्म के नाम पर होनेवाले भ्रष्टाचार को बालक फूजिई फटी-फटी आँखों से देखता और गहन चिन्ता में खो जाता था। किन्तु, भोले माँ-बाप इस बालक के अन्दर छिपे हुए विशिष्ट व्यक्तित्व को पहचानने में सर्वथा असमर्थ रहे। परन्तु, विज्ञ अध्यापकों की पैनी दृष्टि से इस भावी धार्मिक नेता का विलक्षण व्यक्तित्व भला कबतक छिपा रह सकता था ? कक्षा में बालक फूजिई अपने सन्देह के निवारणार्थ इस प्रकार के प्रश्न पूछते थे, जिससे अध्यापकों को स्तब्ध रह जाना पड़ता था। वे सदैव धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने में अभिरुचि रखते थे अथवा ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन करते थे।

बालक फूजिई ने प्रारम्भिक शिक्षा अपनी ग्राम-पाठशाला में ही प्राप्त की थी। शिक्षा के साथ ही वे ग्रामीण जीवन को हृदयंगम करने तथा कृषि-कार्य का अभ्यास करने का निरन्तर प्रयास करते थे। उच्चतर शिक्षा की प्राप्ति के लिए वे उसुकी नामक नगर में उच्चतर कृषि-विद्यालय में प्रविष्ट हुए, जहाँ बड़े ही श्रम और संयम

का जीवन बिताने लगे। उनका अधिकांश समय अन्वेषण-कार्य में व्यतीत होता था। पाठ्य-पुस्तकों के अध्ययन के अतिरिक्त अन्यान्य देशों की कृषि-प्रणाली-सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए वे अपने अवकाश के क्षण, पुस्तकालय में व्यतीत करते थे। धार्मिक गाष्ठियों में वे न केवल उपस्थित रहते थे, वरन् उनमें होनेवाली धर्म-चर्चाओं में सक्रिय रूप से भाग भी लेते थे। उनके अकाट्य तर्कों, अद्भुत मेधाशक्ति और धार्मिक ज्ञान का लोहा न केवल विद्यार्थी, वरन् सभी अध्यापक भी मानते थे। धार्मिक चर्चाओं में कई बार शिक्षक भी उनसे परास्त हो जाते और वे मुक्तकण्ठ से नवयुवा फूजिई की धार्मिक चेतना तथा मौलिक विचारों की प्रशंसा करते थे।

कृषि-विद्यालय से उत्तीर्ण होने के पश्चात् अधीती छात्र फूजिई ने धर्म-ग्रन्थों—विशेषकर बौद्ध धर्म-ग्रन्थों एवं बौद्धशास्त्र के गहन अध्ययन के उद्देश्य से **टोकियो** नगर-स्थित **रिश्शियो-विश्वविद्यालय** में प्रवेश किया। वहाँ भी वे अल्पकाल में ही अपनी विलक्षण मेधाशक्ति द्वारा अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के बीच लोकप्रिय बन गये। उनके बिना किसी भी सभा या समिति की बैठक असम्भव हो जाती थी। उनकी उपस्थिति में उनके अध्यापक अत्यन्त संयम एवं सतर्कतातूर्वक व्याख्यान देते थे। विश्वविद्यालय की शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् धार्मिक शिक्षा की ओर इनकी अभिरुचि प्रवृत्त हुई और वे बौद्धधर्म के गहनतम चिन्तन एवं मनन में डूब गये।

फूजिईजी के विचारों में धीरे-धीरे क्रान्तिकारी परिवर्त्तन होने लगा। वे छात्र-जीवन में ही थे कि **उसूकी** नगर में **निचिरेन** बौद्धधर्म-सम्प्रदाय के एक नेता **भिक्षु निचीएई आदाची** से उनकी भेंट हुई। अध्ययन से बचे हुए समय को वे भिक्षु आदाची के सत्संग में बिताने लगे, जहाँ उन्हें धर्म के रसामृत का आस्वाद प्राप्त होने लगा। इन धार्मिक नेता के विचारों का प्रभाव फूजिईजी पर इतना गहरा पड़ा कि १९ वर्ष की अपरिपक्व आयु में ही संन्यास धारण कर भिक्षु-जीवन व्यतीत करने लगे। फिर भी, रिश्शियो-विश्वविद्यालय में (जहाँ निचिरेन-सम्प्रदाय से सम्बद्ध शिक्षा प्रदान की जाती है) विशेषज्ञता प्राप्ति के निमित्त प्रवेश करना ही इनका मुख्य उद्देश्य बना रहा।

नारा होरोयूजी कगगाकूइन में उन्होंने **होस्सो, सनलोग, केगाने** इत्यादि बौद्धधर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का अध्ययन किया। **क्योतो**-स्थित **जोडोशीन शू देगाकूइन** में **जोडो** तथा **शीन**-सम्प्रदायों का तथा **केनिनजी-मन्दिर** में **जेन** एवं शिगोन-सम्प्रदायों का भी सम्पूर्ण अध्ययन किया। फलस्वरूप, बौद्ध-साहित्य पर आपको पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ। कोई भी ऐसा बौद्ध ग्रन्थ नहीं था, आपकी नजर से चूक गया हो।

इस प्रकार, फूजिईजी अपनी शास्त्रीय गुरुता के कारण **फूजिई गुरुजी** के नाम से सर्वत्र सम्बोधित-समादृत होने लगे ।

फूजिई गुरुजी लगभग दो दशक तक बौद्धधर्म-सागर का मन्थन करते रहे, जिसमें उन्होंने प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं के अन्तर्गत आनेवाले लगभग सभी धर्मों (सम्प्रदायों) का ही विधिवत् ज्ञान प्राप्त नहीं किया, वरन् उसके साथ ही चिन्तन एवं मनन के माध्यम से आध्यात्मिक क्रिया का भी अभ्यास किया । बौद्धधर्म-शिक्षण की इस दीर्घ अवधि में वे बौद्ध धर्मोदधि का सतत अवगाहन करते रहे । उनकी धर्मजिज्ञासु प्रवृत्ति ने तबतक चैन की साँस नहीं ली, जबतक उन्हें उस विशाल ज्ञानमृत-सागर का अमृत प्राप्त नहीं हा गया । अन्ततोगत्वा, उनकी साधना सफल हुई और उन्होंने बौद्ध संसार को एक नये महान् सत्य का दर्शन कराया । यह महान् सत्य, बौद्ध धर्म-सागर के मन्थन से प्राप्त यह अमृत, यह मूलमन्त्र आज विश्व में **'ना मू म्यो हो रें गे क्यो'** के नाम से प्रसिद्ध है । जिस किसी दृष्टि से भी इस मन्त्र के अर्थ का विश्लेषण किया जाय, बस उसी अमृत की प्राप्ति होगी ।

यह मन्त्र गृध्रकूट पर्वत पर जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में प्रसृत हुई, बौद्ध धर्म का सार-स्वरूप, भगवान् बुद्ध की उस अमृत-वाणी का संक्षिप्त रूप है । भगवान् बुद्ध की वह अमर वाणी **'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र'** के नाम से प्रसिद्ध है । फूजिई गुरुजी को यह महान् उपलब्धि सन् १९१७ ई० में हुई थी, जिसका धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा भारी महत्त्व है ।

फूजिई गुरुजी समन्वय की विराट् प्रतिभा लेकर बाह्य संसार में अवतीर्ण हुए हैं । जिस समय उन्होंने आँखें खोली थीं, उस समय उन्हें यह देखकर अन्यन्त ग्लानि हुई थी कि बौद्धधर्म अत्यन्त तीव्र गति से पतन की ओर अग्रसर हो रहा है । बौद्धधर्म के अनेकानेक समुदाय अपने को अलग मानते थे । ये सम्प्रदाय धर्म के नाम पर हमेशा आपस में लड़ते थे एवं धर्म की मूल आत्मा की धर्म के ही नाम पर निर्मम हत्या की जा रही थी । भगवान् बुद्ध ने जिस करुणा एवं अहिंसा की आधारशिला पर बौद्धधर्म का भव्य प्रासाद निर्मित किया था, वह करुणा तो बौद्धधर्म में सर्वथा लुप्तप्राय हो चुकी थी । इतना ही नहीं, बौद्ध मन्दिर भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये थे और पुजारी धर्म के ठेकेदार । ये धर्माचारी, सेवा, संयम और विनय की भावनाओं को तिलांजलि ही दे चुके थे एवं समाज में धर्म का बड़ा ही विकृत रूप प्रस्तुत किया जा रहा था । जनता में ऐसे धर्म के प्रति न केवल घृणा, अपितु विद्रोह भी उत्पन्न हो चला था, वस्तुस्थिति तो यह थी कि उन्हें धर्म नाम से ही वितृष्णा होने लगी थी । ऐसे विकट समय में धर्म की डूबती नौका की पतवार महामानव फूजिई गुरुजी ने अपने हाथ से सँभाली और असीम साहस के साथ उसका संचालन करने लगे । सन् १९१७ ई० में जिस महान् सत्य का आविष्कार उन्होंने किया था, उसका प्रकाश वे जनता

के मध्य वितरित करने लगे। सभी समुदायों के परस्पर मतभेदों को समाप्त कर उन्हें एक मंच पर ला खड़ा करने का दुष्कर कार्य भी उन्होंने अपूर्व साहस के साथ सम्पन्न किया। उन्होंने सभी सम्प्रदायों के मूल तत्त्वों को एकत्रित करके उन्हें समन्वय की माला में पिरो दिया एवं बौद्धधर्म के उज्ज्वल स्वरूप को पुनः अपने देश एवं संसार के सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित किया। बौद्धधर्म को शक्तिशाली एवं चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से तथा विभिन्न बौद्ध-सम्प्रदायों को एक सूत्र में बाँधने के लिए, उन्होंने सन् १९१७ ई० में **अखिल जापान बौद्ध संघ** की स्थापना की। यह संघ गत ४५ वर्षों से विश्व-शान्ति की स्थापना के श्लाघनीय कार्य में प्रवृत्त है एवं संसार के लाखों नर-नारी इस संघ से प्रेरणा और प्रकाश पाते हैं।



अहिंसा-मन्त्र का प्रचार : जनसेवा : तीर्थ-निर्माण

जब-जब मानवता पीड़ित हुई है अथवा मानव अपनी अज्ञानतावश प्रकृति-प्रकोप अथवा हिंसात्मक प्रवृत्तियों का शिकार हुआ है, तब-तब महामना फूजिई गुरुजी ने व्यथा-विचलित होकर प्रतिकार का कोई-न-कोई मार्ग ढूंढ़ ही निकाला है। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई व्यक्ति निकट से उनकी मानसिक अवस्था का निरीक्षण करे, तो उस महान् आत्मा की करुणा-विगलित अवस्था की सहज कल्पना उसे हो जायगी।

दुर्भाग्यवश इन्हीं दिनों प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा एवं मानव की नृशंस पाशविक प्रवृत्ति हिंसा और प्रतिरोध की अग्नि में अपने हाथ सेंकने लगी। 'विषस्य विषम् औषधम्' में संसार की सरकारों का विश्वास इस कदर बढ़ गया था कि हिंसा को रोकने के लिए हिंसा के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यही कारण था कि युद्ध की एक छोटी-सी चिनगारी ने भभककर विकराल विश्व-युद्ध का रूप धारण कर लिया। फूजिई गुरुजी ने यह युद्ध-विभीषिका अपनी आँखों से देखी थी, अतएव आन्तरिक विकलता ने उनकी निद्रा का हरण कर लिया। चौबीसों घण्टे एक ही प्रश्न उनके मस्तिष्क में कौंधता रहता कि क्या "अहिंसा का मन्त्र केवल शान्तिकाल के लिए ही अपनाने योग्य है और युद्धकाल में उसकी कोई भी उपादेयता नहीं ? क्या राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रेम एवं अहिंसा के प्रयोग से युद्ध रूपी महामारी का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है ?" इस प्रश्न के उत्तर में उनकी आतमरात्मा बड़े बल तथा विश्वास से पुकार उठी— **"अहिंसा के मन्त्र की वास्तविक आवश्यकता तो युद्धकाल में ही है एवं अहिंसा ही एकमात्र ऐसा श्रेयस्कर और सफल मार्ग है, जिसके द्वारा युद्ध का दमन एवं शमन सम्भव है··।"**

अपनी सरकार तथा सामाजिक परिस्थितियों की कुछ भी परवाह न करते हुए गुरुजी ने अपनी आत्मा की इस पुकार को जनता से सम्मुख व्यक्त किया। और, उस दकियानूसी जमाने में, जबकि युद्ध में मरना-मारना ही सच्चा पराक्रम माना

जाता था और हिंसा को ही सरकार एवं जनता शूरवीरता की संज्ञा दिया करता था, उन्होंने अदम्य साहस से इस विचार-परम्परा का खण्डन करते हुए लोगों को समझाया कि "सच्चा शक्ति सशस्त्र सनिक बल नहीं, बल्कि प्रेम है; हिंसा पर विजय पाने का साधन युद्ध नहीं, बल्कि अहिंसा है और सच्ची वीरता विनय है, न कि नर द्वारा नरहत्या····।" लेकिन, गुरुजी ने इस एकाकी स्वर को सुनने की लालसा किसमें थी ? युद्ध टला नहीं, दुनिया को उसका दुष्परिणाम भोगना था और उसने भोगा भी। लेकिन, एकाकी रहने पर भी उन्होंने अपना मन्त्र त्याग नहीं दिया, किन्तु निरन्तर अपने शान्ति-वाद्य को बजाते अथच नम्र, किन्तु वीर स्वर से 'ना मू म्यो हो रें गे क्यो' के मन्त्र का उच्चारण करते हुए जनता में शान्ति-सन्देश प्रसारित करने लगे। युद्ध के भीषण नगाड़ों के साथ फूजिई गुरुजी के इस शान्ति-सन्देश-वाहक बाजे के वैषम्य को जब हम देखते हैं, तब सचमुच ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और इस नेता के अन्तस्तल में पैठी हुई क्रान्ति का साक्षात् दर्शन होने लगता है। देश-देशान्तर की सेनाएँ अपने ध्वंसकारी युद्धास्त्रों से घोर निनाद उत्पन्न करती हुई, जहाँ रौद्र रस का संचार कर रहा था, वहाँ यह क्रान्तिकारी फकीर शान्ति का बाजा बजाकर भूमण्डल पर छाये अशान्ति के तिमिर का भेदन करने में संलग्न था।

युद्ध के प्रतिरोध-हेतु शान्ति-यात्रा करते हुए फुजिई गुरुजा **मंचुरिया** पहुँचे एवं सन् १९१७ ई० के १ दिसम्बर के शुभ दिन में इनके कर-कमलों से वहाँ शान्ति-मन्दिर की स्थापना हुई। इस शान्ति-मन्दिर की स्थापना के लिए उन्होंने एक सप्ताह का निर्जल उपवास किया था। तत्पश्चात् उन्होंने अनेक शान्ति-मन्दिरों की संस्थापना की और भविष्य में बौद्ध तत्त्व अथवा अहिंसा के प्रतीक के रूप में इन मन्दिरों का निर्माण करना ही इनका विशेष लक्ष्य रहा। जबतक महायुद्ध समाप्त नहीं हो गया, तबतक विभिन्न देशों और एशिया में इनकी शान्ति-यात्रा का चक्र भी अबाध गति से चलता रहा। शान्ति-मन्दिरों के निर्माण में इनकी अभिरुचि इतनी तल्लीन हुई कि स्वदेश-वापसी की बात तक इन्हें विस्मृत-सी हो गई।

दुर्भाग्यवश सन् १९२३ ई० के मध्य जापान में महान् ऐतिहासिक भूकम्प का विस्फोट हुआ। इस विपत्ति में फुजिई गुरुजी ने तत्काल ही स्वदेश-यात्रा की एवं भूकम्प से पीड़ित क्षेत्र में दिवा-रात्रि अथक श्रम-साधना में संलग्न हो गये। उन्होंने अपनी सेवा का जाल सर्वत्र फैला दिया। धन, अन्न, वस्त्र, दवा-दारू, वासस्थान इत्यादि अनेक कल्पनातीत सहायताएँ उन्होंने भूकम्प-पीड़ितों को प्रदान कीं। अपने निवास एवं भोजन की परवाह न करके वे 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' की साधना में लीन हो गये।

भूकम्प-पीड़ितों की सेवा के इतिहास में फूजिई गुरुजी का नाम स्वर्णाक्षरों में

अंकित है। समय-समय भूकम्प-पीड़ित नर-नारियों ने उनकी सेवा भावना के प्रति जो उद्गार प्रकट किये हैं, उनसे उनके महान् व्यक्तित्व तथा वेदना-ग्रस्त मानव के प्रति सहानुभूति की भावना आर उनकी तपस्यावृत्ति का सच्चा परिचय मिलता है।

जापान के भूकम्प के पश्चात् पूज्य गुरुजी अपने जन्मस्थान जापान में ही शान्ति कार्य में रत हो गये और सात-आठ वर्षों की छोटी-सी अवधि में उन्होंने घोर परिश्रम के साथ तीन सौ से अधिक शान्ति-मन्दिरों का निर्माण कराया। उनके इस विशाल कार्य को जब हम समीक्षात्मक दृष्टि से विचारने का प्रयास करते हैं, तब ऐसा अनुभव होने लगता है कि पूज्य गुरुजी स्वयं में एक व्यति-मात्र नहीं, अपितु एक महान् एवं शक्तिशाली संस्था हैं।

इसके अतिरिक्त, पूज्य गुरुजी के सम्बन्ध में एक आश्चर्यजनक उपलब्धि यह है कि इस महान् पुरुष के दैनिक कार्यक्रम में समय की बड़ी जबरदस्त पाबन्दी है। अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत करने की उनकी प्रवृत्ति श्लाघनीय है। किन्तु, असंभव को सम्भव कर देने की व्यर्थ आश्वस्ति उन्होंने कभी किसी को नहीं दी। सच पूछिए; तो पूज्य गुरुजी के सदृश अहिंसा के प्रतीक, सत्यवादी करुणा के अवतार एवं निष्ठावान् पुरुष आज के युग में विरल हैं।



शान्ति-यात्रा : सन्त-मैत्री : युद्ध : अहिंसा

परम पूज्य गुरुजी का पूरा नाम **भिक्षु निचिदात्सु फूजिई गुरुजी है। वे जापान-बौद्धसंघ** के अध्यक्ष होने के साथ ही सम्पूर्ण बौद्ध जगत् में भी पूज्यास्पद हैं। सन् १९३० ई० के २५ अगस्त को अपनी माता की अस्थियों को लेकर उन्होंने भगवान् बुद्ध की पवित्र जन्मभूमि भारत में आने का संकल्प किया और सन् १९३१ ई० की १६ जनवरी को प्रथम बार भारत की कलकत्ता नगरी में उनका पदार्पण हुआ। तत्पश्चात् बौद्ध तीर्थ-स्थानों का भ्रमण करते हुए वे सन् १९३३ ई० के ४ अक्टूबर को सेवाग्राम में जाकर महात्मा गान्धी से मिले। तत्पश्चात् वे महात्मा गान्धी तथा भारत के अन्य शीर्षस्थ नेताओं के साथ भारत में शान्ति, अहिंसा और मैत्री को सुदृढ करने का निरन्तर प्रयास करते रहे। गान्धीजी, प्रथम साक्षात्कार में ही फूजिई गुरुजी के व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक तेज से अत्यन्त प्रभावित हुए थे, साथ ही वे गुरुजी के मन्त्र-पाठ की गुह्य शक्ति के प्रभाव से भी अपरिचित न थे। अतएव, उन्होंने अपनी प्रार्थना के अन्तर्गत, बौद्धधर्म की प्रार्थना के स्थान पर '**ना मू म्यो हो रें गे क्यो**' का समावेश किया। अपने दूसरे मन्त्र के रूप में पूज्य गुरुजी ने तीन बन्दरों की मूर्त्तियाँ गान्धीजी को भेंट कीं, जिन्हें गान्धीजी ने अन्तिम समय तक अपने साथ रखा। ये बन्दर 'गान्धीजी के तीन बन्दर' के नाम से विख्यात हुए। जैसा कि सर्वविदित है ये तीन बन्दर बुरी वस्तु न देखने, झूठ न बोलने एवं असत्य न सुनने के प्रतीक हैं।

यहाँ फूजिई गुरुजी की भारत-यात्रा के पीछे छिपी एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। भारत की पुण्यभूमि के प्रति गुरुजी की आस्था उनके अपने बाल्यकाल में ही जागरित हुई थी, जब उन्होंने 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र' के व्याख्याता **भिक्षु निचिरेन बोधिसत्त्व** के उपदेशों का अध्ययन किया था। उसी समय वे दृढप्रतिज्ञ हुए थे कि अपना सम्पूर्ण जीवन अहिंसा और करुणा के माध्यम से विश्वशान्ति की

स्थापना करने में ही व्यतीत करेंगे। विश्व को नवीन दिशा प्रदान करनेवाले भगवान् बुद्ध की पुण्यभूमि भारत थी, अतएव बाल्यकाल से ही उनके हृदय में भारत-दर्शन की लालसा जागरित हुई थी। इसीलिए, जापान में जब पहला बार उनकी मुलाकात एक भारतीय पंजाबी सज्जन से हुई, तब उन्हें अपार हर्ष हुआ। भारत आने से पूर्व एक दूसरे भारतवासी से उनकी मुलाकात चीन में हुई। वे सज्जन भी पंजाबी सिक्ख थे। जब फूजिई गुरुजी ने अपनी भारत-यात्रा के निश्चय को उनके सम्मुख प्रकट किया, तब उन सज्जन ने आपको कलकत्ता-स्थित गुरुद्वारा में ठहरने का सुझाव देते हुए एक पत्र भी प्रदान किया। सन् १९३२ ई० में जब गुरुजी कलकत्ता आये, तब कलकत्ता-निवासी धनाढ्य जापानी परिवारों के श्रद्धापूर्ण आमन्त्रणों को अस्वीकृत करके उन्होंने हेरिसन रोड में स्थित एक गुरद्वारे में रहना ही पसन्द किया। कलकत्ता से उन्होंने राजगीर की यात्रा की, पुनः दिसम्बर, १९३२ ई० में बम्बई पहुँचे। अपनी भारत-यात्रा समाप्त कर वे बम्बई जानेवाले ही थे कि इन्हीं दिनों उनकी भेंट अचानक **माता कस्तूरबा** से हुई। यह भेंट उनके लिए तथा भारत के लिए ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुई। **कस्तूरबाजी** से **महात्मा गान्धी** तथा भारत के स्वाधीनता-संग्राम का परिचय प्राप्त करके वे अत्यन्त प्रभावित हुए और भारत के अहिंसक स्वाधीनता-संग्राम के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्होंने अपने जो उद्‌गार प्रकट किये थे, वह वर्णनातीत है। उसका अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन नहीं। अहिंसा और शान्ति पर उनके विचार सुनकर कस्तूरबाजी भी अत्यन्त प्रभावित हुई थीं एवं उन्होंने गुरुजी को महात्मा गान्धी से मिलने का निमन्त्रण स्वयं गान्धीजी से ही दिलवाया था।

सन् १९३३ ई० में ही परमपूज्य गुरुजी भारत से सिलोन गये और वहाँ २५ अगस्त को **भिक्षु श्री एन० प्रियरत्न** से उन्हें **आदम** पर्वत के पादमूल में स्थित **गिनीगथेना** में भगवान् बुद्ध के भस्मावशेष का कुछ अंश प्राप्त हुआ जिसे अमूल्य निधि के रूप में वे अपने साथ जापान ले गये।

गान्धीजी का प्रेमपूर्ण निमन्त्रण पाकर सन् १९३४ ई० में फूजिई गुरुजी पुनः भारत पधारे और द्वितीय बार उनकी गान्धीजी से मुलाकात हुई। यह मिलन न केवल विलक्षण था, अपितु क्रान्तिकारी तथा ऐतिहासिक भी था। इन्हीं दिनों भारत में स्वाधीनता-आन्दोलन जारों से चल रहा था और गान्धीजी तथा अन्य भारतीय नेताओं को अक्सर जेल-यात्रा करनी पड़ती थी। भारत आने से पूर्व नमक-सत्याग्रह का हाल जब वे समाचार-पत्रों में पढ़ते थे और गान्धी तथा उनके सहयोगियों की तसवीर देखते थे, तब सुखद आश्चर्य में खो जाते थे कि गान्धीजी के मुखमण्डल पर

अँगरेज-सरकार की क्रूरता के प्रति घृणा अथवा प्रतिकार की भावना का चिह्न-मात्र भी देखने को नहीं मिलता। जब भारत में आकर उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में गान्धीजी के दर्शन किये, तब उन्हें और भी अधिक आश्चर्य तथा अपार हर्ष हुआ एवं गान्धीजी के महान् व्यक्तित्व से आप अत्यन्त प्रभावित हुए।

"गान्धीजी ने पूछा कि आप भी जापानी साम्राज्यवादियों की दूत बनकर भारत पर कब्जा लेने के लिए आए हैं क्या ?"

"किस साधन से ?"

"व्यापार से।" गान्धीजी ने कहा।

गुरुजी ने उत्तर दिया—"हमलोग भिक्षु होने के नाते व्यापार के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। आपने अभी "कब्जा" शब्द का इस्तेमाल किया। यदि "कब्जा" शब्द का इस्तेमाल कर सकूँ तो कहूँगा कि जिस तरह बौद्धधर्म ने सारे जापानियों के हृदय पर अहिंसा एवं करुणा के संदेशानुसार कब्जा कर लिया है उसी प्रकार मैं जापानी बौद्धधर्म को लेकर सारे भारतीयों के हृदय पर कब्जा कर लेना चाहूँगा।"

गान्धीजी से फूजिई गुरुजी की भेंट वर्धा-आश्रम में हुई। सन् १९३४ ई० में गान्धीजी से मिलने के लिए जब वर्धा पधारे, तब वहीं शान्ति का बाजा बजाते हुए और **'ना-मू-म्यो-हो-रें-गे-क्यो'** का मन्त्र-गान करते हुए उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया था। गान्धीजी को इस ढंग की प्रार्थना सुनने का अनुभव सर्वप्रथम इन्हीं के द्वारा हुआ था। जापानी बौद्धों के वीर और विनय-भाव से समन्वित इस प्रार्थना-मन्त्र को सुनकर गान्धीजी अत्यन्त प्रभावित हुए और मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा भी की। फूजिई गुरुजी अपने भाषणों के अन्तर्गत बताते हैं कि गान्धीजी की व्यस्त दिनचर्या में से यद्यपि मुलाकातियों में सबसे अधिक समय उन्हें ही मिलता था, तथापि सारे दिन में मिलने की यह अवधि केवल १५ मिनट की ही हुआ करती थी, जिसमें ये दो महान् नेता अपने विचारों का आदान-प्रदान कर पाते थे। महात्मा गान्धी ने जब फूजिई गुरुजी को चरखा तथा सूत्रयज्ञ की मीमांसा समझाई और फुजिई गुरुजी ने अपने मूल प्रार्थना-मन्त्र **'ना-मू-म्यो-रें-गे-क्यो'** का गान्धीजी के समक्ष रहस्योद्घाटन किया, तब दोनों धार्मिक नेता एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हुए। और, इस स्थल पर गान्धी-फूजिई विचारों का ऐसा धार्मिक समन्वय हुआ कि दोनों दो शरीर रहते हुए भी विचारों से एक हो गये। फूजिई गुरुजी ने बड़ी निष्ठा के साथ सूत कातना सीखा और अपने हाथ से काते सूत की सर्वप्रथम 'सूत्रांजलि' जब उन्होंने गान्धी जी की सेवा में, अपनी-आश्रम-साधना के प्रतिफलस्वरूप, प्रदान की, तब गान्धीजी का रोम-रोम पुलकित हो उठा था। वे ६८ दिनों तक गान्धीजी के पास वर्धा-आश्रम में रहे एवं भारत के

अहिंसक स्वतन्त्रता-संग्राम का हार्दिक समर्थन करते हुए अपना सक्रिय योगदान समर्पित किया। गान्धीजी के सम्पर्क में आने के बाद अहिंसा के उपायों में उनका विश्वास दृढ़ से दृढ़तर हो गया।

गान्धीजी से अपनी सफल भेंट के पश्चात् फूजिई गुरुजी ने एशिया की यात्रा प्रारम्भ की, किन्तु अपने प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने **आनन्दभाई** (मारुयामा सान्) तथा **केशव भाई** नामक दो बौद्ध भिक्षुओं को गान्धीजी के समीप सेवाग्राम-आश्रम में भेजकर गान्धीजी से अपने सम्बन्ध को सदैव के लिए मजबूत बना लिया। इन दोनों भिक्षुओं ने फूजिई गुरुजी की ओर से भारत के स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया और जेल की कठोरतम यातनाएँ भी हँसते-हँसते सहन कीं। ब्रिटिश-सरकार के कर्मचारी जब केशवभाई को पुलिस की हिरासत में लेने के लिए गान्धीजी के पास सेवाग्राम आये, तब कानून का पालन करते हुए बापू ने उन्हें पुलिस के सुपुर्द कर दिया। बिदाई के उन क्षणों में बापू ने जो वचन कहे थे, उनके स्मरणमात्र से ही हृदय अभिभूत हो उठता है। फूजिई गुरुजी के प्रतिनिधि इन बौद्ध भिक्षुओं को, भारत के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना के सन्दर्भ में, बड़े गौरव के साथ स्मरण किया जाता है।

उसी समय के फिजूई गुरुजी का व्रत बना—भारत जैसे अहिंसक नीतिवाले देश के संकट का प्रतिकार अथवा राजनीतिक अन्याय का प्रतिवाद करना।

सन् १९३५ ई० में फूजिई गुरुजी ने बर्मा की यात्रा की। बर्मा-यात्रा के पश्चात् वे तीसरी बार भारत पधारे। इस बार उनके भारत-आगमत का एक महान् उद्देश्य था, जिसकी पूर्त्ति में उनको पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। बचपन से ही क्रान्तिकारी बौद्ध धर्मगुरु निचिरेन की यह भविष्यवाणी उनके मन में बहुत गहराई से अंकित हो गई थी कि ये विश्व में पुनः सद्धर्म का उत्थान होनेवाला है एवं वह सूर्यदिशा (जापान देश) से चन्द्रदिशा (भारत) को व्याप्त करता हुआ विश्व-व्यापी रूप धारण कर लेगा। आचार्य निचिरेन बोधिसत्त्व की इस भविष्यवाणी में फूजिई गुरुजी की आस्था इतनी प्रबल थी कि वे इसे साकार करने के लिए ही सन् १९३५ ई० में तीसरी बार भारत पधारे और इसी वर्ष कलकत्ता में सर्वप्रथम बौद्ध मन्दिर की स्थापना की। भारत के आधुनिक युग के इतिहास में सम्भवतः यही सबसे पहला शान्ति-मन्दिर है।

सन् १९३६-३७ ई० में फूजिई गुरुजी ने राजगीर, बम्बई आदि स्थानों में **सद्धर्म-शान्ति-मन्दिर** की स्थापना की। सद्धर्म-सेवाकार्य की एक लम्बी योजना अनिश्चित काल तक भारत में रहकर उन्हें पूरी करनी थी, किन्तु दुर्भाग्यवश इन्हीं दिनों द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल विश्व के इतिहास में मँडराने लगे। जापान पर चीन ने आक्रमण

कर दिया और विश्व-भर में अशान्ति का प्रचण्ड निनाद मुखरित होने लगा। अतएव, वे अपने सभी पूर्वनिर्धारित शान्तिसेवा-कार्यक्रम तत्काल के लिए स्थगित कर तुरत ही युद्धस्थल की भीषणता का सामना करते हुए मौत के मुख में जा खड़े हुए एवं अपने देश तथा समस्त संसार को एक नया विचार-दर्शन प्रदान करने में सचेष्ट हो गये।

फूजिई गुरुजी शान्ति के पुजारी हैं एवं उन्हें प्रथम विश्वयुद्ध का कटु अनुभव भी प्राप्त था; किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध का अनुभव और भी भीषण तथा विकराल सिद्ध हुआ। चीन के आक्रमण का मुकाबला जापान ने सशस्त्र सैनिक शक्ति से करते हुए बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़ दिया। जापान-सरकार की युद्धनीति का सार्वजनिक विरोध करते हुए भिक्षु फूजिई गुरुजी ने अहिंसा को समस्या के समाधान का एकमात्र मार्ग बताकर तत्कालीन जापानी साम्राज्यवादी सरकार का भयंकर रोष मोल ले लिया था। उन्होंने युद्ध की निरर्थकता का उपदेश केवल जापान को ही नहीं दिया, वरन् शत्रु-देश चीन को भी बारम्बार यही बात समझाने का प्रयास किया था। किन्तु, सरकार और शासकों की विकट माया इस फकीर की बात मानने के लिए कब तैयार हो सकती था। एकाकी रहने पर भी वे करुणा, शान्ति और अहिंसा का नारा लगाने से बाज नहीं आये और अपना शान्ति का बाजा बजाते हुए तथा मूलमन्त्र का उच्च-स्वर से पाठ करते हुए युद्धभूमि में ही प्रवेश कर गये। उनकी अदम्य आत्मिक शक्ति तथा अहिंसा के प्रति अनन्य निष्ठा को देखकर घोर आश्चर्य होता है। युद्धभूमि में जिस समय दोनों ओर से शत्रु-सेनाएँ एक दूसरे पर गोले एवं बमों की बरसा कर रही थीं तथा तोपें मौत की आग उगल रही थीं, उस भीषण तथा कल्पना में भी भयावह भूमि में वे अकेले शान्ति का बाजा बजाते हुए सैनिक शिविरों में घूमते थे और वे 'ना मू म्यो हो रें गे क्यो' के मन्त्र का जप करते हुए सैनिकों को शान्ति और अहिंसा की शिक्षा देते थे। युद्धभूमि में जहाँ से भी वे अपना बाजा बजाते हुए गुजर जाते, सैनिक अपने हथियारों को विराम देकर बड़े आदर और श्रद्धा के साथ उनके सम्मुख नतमस्तक हो जाते थे एवं शत्रु-सैनिक मस्तक झुकाकर अभिवादन करते हुए उनका मुक्त कण्ठ से स्तुतिगान करने लगते थे। इस प्रकार, छह-सात वर्षों (सन् १९३९-'४५ ई०) तक वे निरन्तर शान्ति-यात्रा करते रहे और युद्ध ज्वर-ग्रस्त एशियाई देशों, अर्थात् मंचूरिया, मंगोलिया, चीन, जापान, फारमोसा, कोरिया इत्यादि देशों की युद्ध-भूमि में जाकर युद्ध की अनुपादेयता और अहिंसा की महिमा बखानते हुए समस्त एशिया को सद्धर्म के सूत्र में पिरोने का महान् ऐतिहासिक कार्य करने में तन-मन से संलग्न रहे। इसी विषम काल में उन्होंने सौ से भी अधिक शान्ति-मन्दिरों का निर्माण कराया।

भारत की यात्राएँ और प्रभाव-ग्रहण

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् संसार में बर्बादी से जो बादल छाये, उससे फूजिई गुरुजी के मन में अत्यन्त दुःख हुआ एवं उन्होंने यह अनुभव किया कि संसार में शान्ति, अहिंसा और मैत्री को पुनःस्थापित करने के लिए सर्वत्र शान्ति-स्तूप का निर्माण करना ही श्रेयस्कर मार्ग है। अपने इस निश्चय को कार्यान्वित करने के निमित्त गुरुजी ने जापान के प्रधानमन्त्री **कोनोए हूमीमारो, जेनरल ईतागाकी,** admiral **यामामोता ईसोरोकू** आदि को मध्य सिलोन से प्राप्त बुद्ध का भस्मावशेष समर्पित कर दिया एवं उस पर शान्ति-स्तूप निर्माण करने का सुझाव दिया। उन्होंने **कुमामोतो के हानाओकायामा** में, सन् १९४६ ई० के अन्त में अपने कुछ शिष्यों की सहायता से प्रथम शान्ति-स्तूप का निर्माण-कार्य प्रारम्भ किया, जो सन् १९५४ ई० में पूर्णरूप से बनकर तैयार हुआ।

सन् १९५४ ई० में पूज्य गुरुजी ने जापान में **अखिल विश्व शान्ति-सम्मेलन** का आयोजन किया, जिसमें विश्वभर के देशों ने भाग लिया। विश्व के आधुनिक इतिहास में शान्ति-स्थापना के प्रति यह सर्वप्रथम सबसे बड़ा कदम था एवं जिसमें ऐतिहासिक महत्त्व के प्रस्ताव पास किये गये थे।

उन्होंने **हिरोशिमा** में, जहाँ अमेरिका के अणुबम का भीषण ध्वंसकारी विस्फोट हुआ था, एक विश्वशान्ति-स्तूप की स्थापना की। इस स्थान पर प्रत्येक वर्ष ६ अगस्त प्रातः ८ बजे शान्ति-समारोह का आयोजन होता है। इस समारोह में देश-विदेश के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, हिरोशिमा के उन नगरवासियों के वंशज, जो अणुबम के विस्फोट में हताहत हुए थे, लाखों की संख्या में सम्मिलित होकर उन निरीह आत्माओं को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। सम्पूर्ण श्रद्धांजलि-प्रक्रिया इतनी निस्तब्धता एवं नीरवता के बीच होती है कि सूई गिरने पर भी कहीं कोई आवाज नहीं सुनाई पड़ती।

इसी भाँति एक और शान्ति-स्तूप की स्थापना पूज्य गुरुजी ने **नागासाकी** में

की थी। नागासाकी वह दूसरा शहर है, जिसपर अणुबम का अमानवीय और नृशंस प्रहार हुआ था। वहाँ भी उसी दिन उसी नियमित समय पर प्रत्येक वर्ष शान्ति-सम्मेलन होता है। उस विध्वंसकारी काण्ड का जिन लोगों को प्रत्यक्ष अनुभव है, वे उस सभा में अपने-अपने अनुभवों को व्यक्त करते हुए उस क्रूर घटना को पुनः याद करते हैं।

नवम्बर, १९५४ ई० में पन्द्रह दिनों तक लंका का भ्रमण करने के पश्चात् फूजिई गुरुजी चौथी बार भारत पधारे। इस बार उन्होंने भारत के अधिकांश राज्यों का भ्रमण किया। बंगाल, बिहार, मद्रास, असम, बम्बई, सौराष्ट्र, दिल्ली आदि राज्यों की यात्रा की और भारत के प्रमुख नेताओं से अन्तरंग वार्त्ताओं में विचार-विनिमय भी हुआ। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद** तथा प्रधान-मन्त्री **पण्डित जवाहरलाल नेहरू** से मिलकर गुरुजी को हार्दिक आनन्द हुआ। सन् १९५२ ई० में पंडित नेहरू ने भिक्षु आनन्द मारुयामा सान् को भगवान् बुद्ध के दस अस्थि-धातु अवशेषों को गुरुजी के नाम भेंट स्वरूप दे दिए। गुरुजी ने उसी स्थल पर मन-ही-मन यह दृढ संकल्प किया कि वे भारत-यात्रा के पश्चात् जापान जाकर १०० विश्व-शान्ति-स्तूपों का निर्माण करेंगे, जिनमें नेहरूजी द्वारा दी हुई भगवान् बुद्ध की अस्थियों का प्रतिष्ठापन होगा।

भारत की इस चौथी यात्रा को आदरणीय फूजिई गुरुजी कई कारणों से बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, जिनमें एक कारण है कि इसी बार उनकी भेंट **आचार्य विनोबा भावे** से हुई। नवम्बर, १९५४ ई० के **पुरी-सर्वोदय-सम्मेलन** में वे पहली बार सन्त विनोबा भावे से मिले। इन दिनों आचार्य विनोबा की भूदान-क्रान्ति बहुत जोरों से देश-भर में व्याप्त हो रही थी। भूदान-आन्दोलन-सम्बन्धी मूल विचारों को सुनकर न केवल उन्होंने इस सामाजिक सर्वोदयी यज्ञ का समर्थन किया, अपितु यह दृढ़ प्रतिज्ञा भी की कि वे गान्धीजी तथा विनोबा भावे के विचारों का जापान में भी प्रसार करेंगे। जापान में सर्वोदय आश्रम की स्थापना उसी प्रतिज्ञा का परिणाम है।

जापान जाकर फूजिई गुरुजी ने अपने कई एक शिष्यों को भारत भेजा। वे शिष्य विनोबाजी के साथ रहकर उनकी पदयात्रा में सम्मिलित होते रहे एवं सर्वोदयी विचारों का सार आत्मसात् करते रहे। कुछ शिष्य तो विनोबाजी के समीप दस साल तक रहे।

भारत-सरकार के विशेष निमन्त्रण पर, भगवान् बुद्ध की २५००वीं वर्षगाँठ मनाने के हेतु भारत द्वारा आयोजित विशाल समारोह में भाग लेने के लिए फूजिई गुरुजी नवम्बर, १९५६ ई० में पाँचवीं बार भारत पधारे और अपने अमूल्य मार्ग-दर्शन से बुद्ध-जयन्ती-उत्सव को गरिमा प्रदान की। इसी यात्रा के अवसर पर राजगृह

में अखिल विश्व-संस्कृति-केन्द्र की सहायता से विश्व-शान्ति-स्तूप के निर्माण की अपनी योजना निर्धारित करते हुए भारत-भूमि का अनुगृहीत किया ।

जून, १९५७ ई० में कोलम्बो में आयोजित **अखिल विश्व-शान्ति-सम्मेलन में भाग** लेने के लिए वे श्रीलंका पधारे, जहाँ विश्व-प्रतिनिधियों के समक्ष भाषण देते हुए उन्होंने विश्व-शान्ति-स्तूप की स्थापना का प्रस्ताव रखा और उसी समय ही कोलम्बो में शान्ति-स्तूप के निर्माण की योजना भी बनाई ।

कोलम्बो-सम्मेलन के पश्चात् फूजिई गुरुजी लाल चीन की यात्रा के लिए रवाना हुए और वहाँ जाकर चीन के राजनीतिक परिवर्त्तन को अपनी आँखों से देखा । परिणामतः, उन्होंने हिंस्रक शक्ति के प्रयोग एवं उसकी तथाकथित उपादेयता का बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन किया और चीनवासियों को आध्यात्मिक शक्ति पहचानने की प्रेरणा देकर जापान वापस लौट आये ।

गान्धीजी और विनोबा भावे के सर्वोदय-आन्दोलन से प्रभावित होकर सन् १९५८ ई० में उन्होंने जापान देश के **शीजूओका** प्रान्त के अन्तर्गत समुद्र-तट पर **स्थित योशीवारा** नगरी में **सद्धर्म आश्रम** की स्थापना की । जापान में यह **सबसे पहला** सर्वोदय-आश्रम है, जिसके द्वारा देश-भर में सर्वोदय के सिद्धान्तों के प्रचार का कार्य सम्पन्न होता है । सर्वोदय-विचार-दर्शन को जापान के जन-मानस तक पहुँचाने के लिए इस आश्रम की ओर से एक **पत्रिका** भी प्रकाशित की जाती है, जो आज भी जापानी जनता के बीच सर्वोदयी भावना उत्पन्न करने में संलग्न है । पूज्य फूजिई गुरुजी नियमित रूप से उस पत्रिका के माध्यम से अपने विचारों का सम्प्रेषण करते रहे । कहना न होगा कि यह पत्रिका जापान में दिन-प्रतिदिन लोकप्रिय होती जा रही है ।



कोटि-कोटि शान्ति-स्तूपों के निर्माण का महाप्रण

सन् १९५८ ई० में फूजिई गुरुजी के प्रधान शिष्य **भिक्षु मारुयामा सान्**, जो राजगृह (राजगीर) में शान्ति-मन्दिर के निर्माण के अनन्तर दीर्घकाल तक उसी स्थल पर रहे थे, किन्तु गत महायुद्ध के समय अँगरेज-शासकों द्वारा बन्दी बना लिये गये थे, 'विश्व शान्ति-स्तूप' के निर्माण की योजना लेकर भारत आये। भिक्षु मारुयामा ने तत्कालीन राष्ट्रपति **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद** और तत्कालीन प्रधान मन्त्री **पण्डित जवाहर-लाल नेहरू** से भेंट की एवं मगध की पवित्र भूमि राजगृह में विश्व-शान्ति-स्तूप के निर्माण की अपनी योजना उनके समक्ष रखी। दोनों भारतीय नेताओं ने इस योजना की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपनी ओर से यह वचन दिया कि इस पुण्यमय कार्य में जहाँ तक होगा, हमारी सहायता आपको प्राप्त होगी।

पुनः भारत-सरकार तथा **जापान-बुद्ध-संघ** के मध्य सरकारी तौर पर वार्त्ता आरम्भ हुई। फलतः, सन् १९६५ ई० के ६ मार्च को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति **डॉ० राधाकृष्णन्** के हाथों राजगृह के रत्नगिरि-शिखर पर विश्व-शान्ति-स्तूप का शिलान्यास हुआ।

सन् १९६९ ई० में राजगृह का विश्व-शान्ति-स्तूप **जापान-बौद्ध-संघ** की प्रचुर आर्थिक सहायता से तैयार हुआ, जिसका उद्घाटन सन् १९६९ ई० के २५ अक्तूबर को भारत के वर्त्तमान राष्ट्रपति माननीय **श्रीवराह गिरि वेंकट गिरि** के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। साथ ही पूज्य गुरुजी ने सहज यातायात की दृष्टि से रज्जुमार्ग की व्यवस्था के लिए बिहार-सरकार को अनुदान भी प्रदान किया। यह स्तूप विश्व का सबसे बड़ा शान्ति-स्तूप है।

सन् १९६१ ई० में विश्व के सभी धर्मों को समन्वय के सत्र में पिरोने के लिए और धर्म के मूल उद्देश्य आत्मशान्ति की स्थापना के लिए उन्होंने पृथ्वी-भर

के अलग-अलग देशों के प्रतिनिधित्व में एक महान् सम्मेलन जापान देश में आयोजित किया। विश्व के धर्म के इतिहास में इतना बड़ा सम्मेलन सम्भवतः आजतक नहीं हुआ है। भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए **बीवी अम्तुस्सलाम साहिबा** अध्यक्ष, कस्तूरबा-सेवा-मन्दिर, राजपुरा तथा तीन अन्य भाई इस महाशिविर में सम्मिलित हुए थे।

इस सम्मेलन में महान् ऐतिहासिक घोषणाएँ एवं प्रस्ताव पारित किये गये थे, जिनमें अणुशक्ति के प्रयोगों का विरोध, समग्र निःशस्त्रीकरण आदि अनेक प्रस्ताव उल्लेखनीय हैं।

श्री जवाहरलाल नेहरू, प्रधान मन्त्री, भारत-सरकार के विशेष निमन्त्रण पर दिल्ली में आयोजित **'अखिल विश्व परमाणु-अस्त्र-विरोधी-सम्मेलन'** में भाग लेने के लिए सन् १९६२ ई० में गुरुजी पुनः भारत पधारे। सम्मेलन की चर्चाओं में न केवल उन्होंने गहरी दिलचस्पी ली, बल्कि सम्मेलन के समक्ष अपनी विचारधारा बड़ी मौलिकता से प्रस्तुत की। इसी विश्व-सम्मेलन में भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद** ने संसार-भर में पूर्ण निःशस्त्रीकरण तथा विसैन्यीकरण के लिए प्रस्ताव पेश किया और फूजिई गुरुजी ने हृदय से उसका समर्थन करते हुए अपने विचारों की पुनरावृत्ति की एवं कहा कि विश्व को सर्वनाश से बचाने और युद्धों की परम्परा को जड़ से उन्मूलित करने का एकमात्र उपाय निरस्त्रीकरण है। जबतक दुनिया के सभी देश एक साथ अपनी सेनाओं को मिटाते नहीं, तबतक दुनिया की शान्ति के भंग होने का खतरा निश्चय ही निरन्तर उपस्थित होता रहेगा। युद्ध पर विजय तथा विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए पूर्ण निःशस्त्रीकरण तथा सैन्यसन्धि-प्रथा का विरोध ही एकमात्र उपाय है।

दुर्भाग्यवश अक्टूबर, १९६२ ई० आततायी चीन ने भारत पर आक्रमण करके इस शान्तिप्रिय देश को युद्धभूमि में ढकेल दिया। भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि भारत पर चीन के अत्याचार तथा भारत की प्रतिरक्षा के लिए नेहरू की ललकार को जापान के समाचार-पत्रों में पढ़कर भिक्षु फूजिई की आत्मा व्याकुल हो उठी और उनकी अन्तरात्मा सन्दग्ध हो उठी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत को जिस रीति से हिंसा का जवाब हिंसा से ही देने के लिए बाध्य होना पड़ा है, उससे विश्व में अहिंसक रीति से विश्व-शान्ति की स्थापना के कार्य को मार्मिक चोट पहुँची है। भारत-चीन-सीमा-संघर्ष ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों पूज्य गुरुजी की बेचैनी बढ़ती गई और अविलम्ब ही उन्होंने भारत में आने का निश्चय कर लिया।

सन् १९६२ ई० के २१ नवम्बर को, शुभ घड़ी में जब उन्होंने भारत की पुण्य-भूमि पर अपना कदम रखा था, तब संयोगवश उसी दिन चीन ने युद्ध-विराम की घोषणा की। सन् १९६२ ई० के २३ नवम्बर को उन्होंने **अखिल भारत सर्वोदय-सम्मेलन** में भाग लेकर संकटकालीन परिस्थिति में भारत को एक नया मार्ग दिखाते हुए, युद्धभूमि में प्रथम शान्ति-सैनिक के रूप में आत्मोत्सर्ग के लिए स्वयं को प्रस्तुत किया। साथ ही, भारत-चीन-सीमा तक शान्ति-यात्रा में वे सम्मिलित हुए; किन्तु उसके आगे यह महान् क्रान्तिकारी कदम उठाने की आज्ञा उन्हें न मिल सकी। सम्मेलन की समाप्ति पर वे दिल्ली पधारे और सीमा-संघर्ष में प्रमुख भारतीय नेताओं से महत्त्वपूर्ण वार्त्ताएँ कीं।

इतने में ही उनके मन को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने रूस जाकर वहाँ के धार्मिक तथा अन्यान्य नेताओं से मिलकर समस्या के समाधान की चेष्टा की।

तत्पश्चात् वे रूस से चीन आए एवं वहाँ के नेताओं से भी वार्ताएँ कीं। सचमुच, इस प्रकार के कितने व्यक्ति संसार में भारत-प्रेमी हैं? आज के इस युग में पूज्य गुरुजी के सदृश भारत का निःस्वार्थ बन्धु कोई दूसरा दृष्टिगत नहीं होता। फूजिई गुरुजी ही वह एकमात्र महान् पुरुष हैं, जिन्होंने भारत-जापान को एक बन्धन में बाँधने का स्तुत्य प्रयास किया है।

भारत के सीमा-संघर्ष के शान्तिपूर्ण समाधान तथा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए फूजिई गुरुजी ने ७ दिसम्बर से वर्ष के अन्त तक, अर्थात् सन् १९६२ ई० तक निर्जल उपवास करने का निश्चय किया। यद्यपि यह वार्षिक उपवास वे पिछले अनेक वर्षों से करते आ रहे हैं, फिर भी इस वर्ष उन्होंने यह उपवास भारत-भूमि में ही करने का जो निश्चय किया था। वह हमेशा एक ऐतिहासिक घटना के रूप में स्मरण किया जायगा। **आचार्य काका साहब कालेलकर** तथा गान्धीजी की परम प्रिय शिष्या **बीबी अम्तुस्सलाम** के नम्र निमन्त्रण पर उन्होंने यह उपवास राजपुरा की नई बस्ती में ही करना स्वीकार किया और सन् १९६२ ई० के १ दिसम्बर को वे **कस्तूरबा सेवा-मन्दिर,** राजपुरा (पंजाब) पधारे। सन् १९६२ ई० के ७ दिसम्बर को गुरुजी का यह ऐतिहासिक उपवास पूरा हुआ और उन्हीं के शब्दों में इस उपवास से उन्हें नया बल, नवीन दृष्टि तथा अभिनव उत्साह प्राप्त हुआ।

फूजिई गुरुजी के कर-कमलों से **कस्तूरबा सेवा-मन्दिर** के अन्तर्गत राजपुरा की नई बस्ती में शान्ति-स्तूप का पवित्र उद्घाटन हुआ। उस अवसर पर गुरुजी ने भगवान् बुद्ध की अस्थियों की स्थापना के साथ ही इस शान्ति-स्तूप की प्राण-प्रतिष्ठा

करके राजपुरा (पंजाब) तथा भारत को सदा-सर्वदा के लिए बौद्ध संसार के साथ जोड़ दिया और सद्धर्म की फिर से नींव डाली।

साथ ही, ९ दिसम्बर, १९६२ ई० से फूजिई गुरुजी ने पंजाब की यात्रा का समारम्भ किया, जिसमें उन्होंने चण्डीगढ़ (जहाँ वे राज्यपाल तथा तत्कालीन स्वास्थ्य-मन्त्री **श्रीवृषभान** से भेंट की), पिंजोर, सरहिन्द, फतहगढ़ साहब, बस्सी पठाना, कुरालो, रोपड़, भाखड़ा नंगल, दुराहा, फगवाड़ा, पठानकोट-धर्मशाला, पालमपुर, जस्सू समूलह आदि स्थानों का भ्रमण किया और स्थान-स्थान पर विद्यार्थियों, नागरिकों तथा सर्वोदय-सेवकों के समक्ष अपने क्रान्तिकारी विचार रखते हुए उनका मार्ग-दर्शन किया।

हिमालय की महत्ता और पावनता के प्रति आपकी अत्यधिक श्रद्धा एवं निष्ठा है। पंजाब-यात्रा के अनन्तर प्रकृति की अपूर्व गोद का सुखद स्पर्श पाने की लालसा से गुरुजी ने हिमालय-यात्रा आरम्भ की, जिसमें उन्होंने मनाली, कुलू, मणिकरण, सुन्दर नगर, शिमला आदि स्थानों का भ्रमण किया। मनाली, और मणिकरण पहुँचने पर तो माता प्रकृति ने भी हिम बरसा कर उनका प्रेमपूर्वक स्वागत किया। मणिकरण तथा शिमला में जनता तथा महिला-समाज के समक्ष दिये गये गुरुजी के भाषण उनके प्रकृति-प्रेम तथा नारी-गौरव के प्रति उच्च भावना को प्रदर्शित करते हैं।

२१ दिसम्बर, १९६२ ई० में गुरुजी ने राजपुरा से विदा ली और दिल्ली पधारे। यहाँ उनकी भेंट अमेरिका के सुविख्यात शान्ति-नेता पूज्यवर **श्री ए० जे० मस्ती** तथा भारत की अनन्य सेविका **बीबी अम्तुस्सलाम** से हुई और भारत-चीन-सीमा-संघर्ष के विषय में काफी गम्भीर चर्चाएँ हुईं। २३ दिसम्बर, १९६२ ई० के प्रातःकाल आपकी भेंट भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीनेहरूजी से हुई। गुरुजी से पुनः मिलकर नेहरूजी को अपार प्रसन्नता हुई।

सन् १९६२ ई० के २४ दिसम्बर को फूजिई गुरुजी दिल्ली से रवाना होकर राजगीर पहुँचे। २७ दिसम्बर को वे पटना के सदाकत-आश्रम में पधारे एवं वहाँ भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी** से भेंट हुई। गुरुजी तीन दिनों तक उनके विशेष अतिथि रहे। इस अवसर पर राजेन्द्र बाबू ने पूज्य गुरुजी के साथ शान्ति-स्तूप-योजना के विषय पर काफी विशद चर्चा करते हुए इस प्रयास की हृदय से प्रशंसा की।

फूजिई गुरुजी एवं डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का वह मिलन-दृश्य बड़ा ही सुखद था,

जब गुरुजी शान्ति का बाजा बजाते हुए शिष्यों के साथ राजेन्द्र बाबू के द्वार पर आये। गुरुजी के स्वागतार्थ स्वयं राजेन्द्र बाबू बाहर चले आये थे। इन पंक्तियों के लेखक ने जब गुरुजी के सभी शिष्य एवं शिष्याओं का परिचय राजेन्द्र बाबू से कराया, तब राजेन्द्र बाबू ने गुरुजी की सुविधा-असुविधा के विषय में जिज्ञासा की। साथ ही, उन्होंने मुख्यमन्त्री इत्यादि उच्चाधिकारियों को संवाद देकर, गुरुजी के लिए की गई व्यवस्था में यथोचित सहायता प्रदान करने का आग्रह किया।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से मिलने के पश्चात् गुरुजी राजगीर लौट आये और वहाँ नववर्ष के उपलक्ष्य में प्रार्थना के लिए भगवान् बुद्ध के प्रिय साधना-केन्द्र गृध्रकूट पर्वत पर ३१ दिसम्बर को सूर्यास्त के पूर्व आसीन हुए। रात्रि-भर, अर्थात् नववर्ष के सूर्योदय तक प्रार्थना चलती रही। नववर्ष के सूर्य को अर्घ्य अर्पित करने के पश्चात्, वे उसी स्थल पर जलपान करके पर्वत से नीचे मन्दिर में आये। यही कार्यक्रम तब से निरन्तर प्रत्येक वर्ष चलता है।

४ जनवरी से ७ जनवरी (१९६३ ई०) तक तीन दिन वे अपने मासिक उपवास में लीन रहे और तत्पश्चात् एक विशेष बैठक में भाग लेने के लिए पटना लौट आये।

भारत-चीन-सीमा-संघर्ष-स्थल के परीक्षण तथा शान्ति एवं अहिंसा के प्रचार के लिए वे सन् १९६३ ई० की १८ जनवरी, को नेफा जाने ही वाले थे कि भारत के प्रधानमन्त्री की ओर से विशेष निमन्त्रण पाकर उन्हें अपने कार्यक्रम में कुछ परिवर्त्तन करना पड़ा। इसी बीच, अर्थात् २६, २७, २८ जनवरी (सन् १९६३ ई०) को पटना में **'शान्ति पैगोडा-निर्माण-समिति'** की बैठकें हुईं। [ये बैठकें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। इनमें राजगीर के विश्व-शान्ति-स्तूप :के निर्माण की योजना पर विचार किया गया था। इन सबके परिणामस्वरूप ही आज गृध्रकूट पर्वत पर शान्ति का वह धवल स्तूप खड़ा है, जिसके निर्माण का सविस्तर वर्णन पीछे किया जा चुका है।] इन बैठकों की समाप्ति पर गुरुजी ने नेफा के लिए प्रस्थान किया। भारत-चीन-सीमा-संघर्ष को शान्ति तथा अहिंसा के तरीकों से सुलझाने और अगर जरूरत हो, तो युद्धस्थल में प्रार्थना करते-करते अपने प्राणों तक का विसर्जन कर देने की कठोर प्रतिज्ञा करके ही वे जापान से रवाना हुए थे। इस प्रतिज्ञा को पूरा करना ही उनका अगला कदम था। अपने इस पावन लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही उन्होंने नेफा के लिए प्रस्थान किया था। वहाँ की परिस्थिति का परीक्षण करने के पश्चात् तथा अपने कार्य के प्रतिकूल वातावरण देखकर उन्हें अपने कार्यक्रम को परिवर्त्तित करना पड़ा।

इसके बाद से पूज्य फूजिई गुरुजी ने प्रत्येक वर्ष नववर्ष के पूर्व भारत आने का कार्यक्रम बनाया। जबसे राजगृह में विश्व-शान्ति-स्तूप का निर्माण तथा उद्घाटन हुआ है, वे नियमित रूप से अक्टूबर माह के प्रथम सप्ताह में आया करते हैं एवं फरवरी के अन्तिम सप्ताह अथवा मार्च में जापान वापस लौट जाते हैं।

इसी बीच, अर्थात् सन् १९७० ई० में तीसरे शान्ति-स्तूप की योजना बनाई गई। स्थान था—भुवनेश्वर के निकट धौलागिरि, जहाँ सम्राट् अशोक का कलिंग के साथ युद्ध के बाद हृदय-परिवर्त्तन हुआ था। यहाँ एक विशाल शिलालेख भी विद्यमान है, उसके सम्मुखस्थ पहाड़ पर ही शान्ति-स्तूप एवं एक मन्दिर के निर्माण का निर्णय सन् १९७० ई० में लिया गया था। उन्होंने इसकी स्वीकृति प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के जापान-प्रवासकाल में अतामी में दी थी।

कुछ महीनों के बाद पूज्य गुरुजी स्वयं उस स्थल को देखने के लिए भुवनेश्वर आये। धौलि में जाकर स्थान का चुनाव उन्होंने स्वयं ही किया।

सर्वप्रथम मन्दिर का निर्माण हुआ, जिसके उद्घाटन के पश्चात् शान्ति-स्तूप का निर्माण-काय प्रारम्भ हुआ। दो वर्षों के अल्पकाल में ही संघ के भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के अथक परिश्रम से यह सुदर्शन शान्ति-स्तूप निर्मित हुआ। इसका उद्घाटन ८ नवम्बर, १९७२ ई० में हुआ।

सन् १९७१ ई० में बँगला देश पर पाकिस्तान द्वारा किये गये भीषण अत्याचार एवं नर-संहार की वह ऐतिहासिक घटना हुई, जो मानवता के नाम पर एक कलंक है एवं वैसी अमानुषिक घटना इतिहास में न कभी हुई और शायद न कभी होगी। पूज्य गुरुजी ने पत्र-पत्रिकाओं में उस हिंसापूर्ण अमानवीय घटना का विवरण पढ़ा एवं उनका करुणामय हृदय द्रवित हो उठा। फलतः, वे सभी आवश्यक कार्यों को छोड़कर सन् १९७२ ई० में बँगला देश गये एवं वहाँ की जनता को शान्ति-सन्देश देने के साथ ही सहायता पहुँचाने का प्रयास करते रहे। वहाँ की पीड़ित जनता को अन्न, वस्त्र, निवास इत्यादि की सहायता देने के लिए उन्होंने सभी प्रकार के आयोजन किये। वहाँ के प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि अन्य नेताओं से भी उन्होंने भेंट की। पुनः अपने कुछ शिष्यों को यह दायित्व देकर वे भारत लौट आये। तत्पश्चात् कुछ समय जापान में व्यतीत कर वे पुनः भारत आये एवं भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों में शान्ति-स्तूप के निर्माण की योजना बनाई।

धौलि-शान्ति-स्तूप के निर्माण-काल में ही पूज्य गुरुजी ने प्राचीन वैशाली में अश्वक-स्तम्भ के निकट एक शान्ति-स्तूप, मन्दिर, पाठशाला एवं पुस्तकालय बनाने के लिए सरकार से भूमि की प्राप्ति का आग्रह किया था। इसके पश्चात् सम्राट् अशोक की प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र में कुम्हरार के निकट एक शान्ति-स्तूप का शिलान्यास

फरवरी, १९७३ ई० में किया गया। परन्तु, जमीन की उपलब्धि में विलम्ब होने के कारण उन्होंने भगवान् बुद्ध के जन्मस्थान **लुम्बिनी** में एक विशाल शान्ति-स्तूप की योजना के साथ प्रस्थान किया एवं उसको सफल बनाने के लिए वे दृढ़प्रतिज्ञ हैं। इसके साथ नेपाल की राजधानी **काठमाण्डू** में भी एक स्तूप बनाने की उनकी योजना है।

बम्बई के निकट उस स्थल पर, जहाँ भगवान् बुद्ध का भिक्षापात्र प्राप्त हुआ था, एवं नागपुर दिल्ली तथा अन्य ऐतिहासिक स्थानों में भी विश्व-शान्ति-स्तूप के निर्माण करने का उनका विचार है।

दार्जिलिंग में एक मन्दिर का उद्‌घाटन किया जा चुका है। सन् १९६८ ई० में **हावाई** में एक शान्ति-स्तूप का निर्माण हुआ था। चीन में एक शान्ति-स्तूप की रचना फूजिई गुरुजी ने की है। कनाडा में भी एक विश्व शान्ति-स्तूप के निर्माणार्थ सभी प्रकार के आयोजन हो चुके हैं। मंचूरिया, कोरिया सोवियत रूस इत्यादि देशों में भा शान्ति-स्तूप का निर्माण हुआ है।

अभी तक जापान में ५० से अधिक शान्ति-स्तूप का निर्माण हो चुका है। देश-विदेश में जिन स्थानों पर अबतक इन स्तूपों की रचना हुई है, उनके नाम इस प्रकार हैं—कुमामोतो, वाकामोच्चु, सिनसुईक्यो, आसी, हिरोशिमा, हिमेजी, वसका, फुकुई, फुसकी, साकागामी, हिदा, गोतेम्बा, अतामी, उत्सुनोमिया, कोमोरो, निज्जुउ, आकिटा, आवमोरी, सपोरो, कुसिरो, वमिटा, वाकासा, सन्निजुका, चिवा, कियोसुईयामा, सिजुवका, कामाकुरा, सकाउई, हुकुई, टोकियो, होनोयोकायामा, राजगीर, धौलागिरि, राजपुरा इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों में भी शान्ति-स्तूप की रचना का कार्य किया जा रहा है। इससे प्रतीत होता है कि फूजिई गुरुजी द्वारा निर्मित इन स्तूपों की संख्या करोड़ों तक पहुँचने में अधिक देर नहीं लगेगी और, जिस दिन यह संख्या पूर्ण हागी, पूज्य गुरुजी का महाप्रण भी पूर्ण होगा।

भारत तथा विश्व का आशापूर्ण दृष्टि आज तेजस्वी महापुरुष की ओर है। मानव-जाति को उनसे और कितनी सेवाएँ प्राप्त करनी हैं, यह तो भविष्य के गर्भ में छिपा हु आ है; परन्तु पूज्य गुरुजी के ये अमर कर्त्तृत्व, विश्वव्यापी शान्ति के प्रतीक स्तूप, युग-युगान्तर तक मानव की अशान्त एवं आकुल आत्मा का शान्ति प्रदान करते रहेंगे। प्रभु इन महामानव, अहिंसा के परम पुजारी एवं शान्तिदूत को अपार शक्ति तथा दीर्घायु प्रदान करें, जिससे मानव का कल्याण एवं मार्ग-प्रदर्शन होता रहे।

ओं नमो बुद्धाय !

